पूज्य श्री लालचंदभाई का प्रवचन
श्री समयसार गाथा १३
ता. २६-१२-१९८९, प्रवचन २१०

आज का दिवस, दिन, मांगलिक दिन है। मांगलिक दिन का कारण ये (है कि) जो इस काल की चौबीसी है, चौबीस तीर्थंकर भगवान हो गये, उसमें प्रथम, पहले तीर्थंकर प्रभु आदिनाथ भगवान का आज जन्म हो गया। भारत का भाग्य आज खुल गया। भाग्य खुल गया (इसका अर्थ) क्या? कई जीवों का मोक्ष भी हो गया उनके निमित्त से, ऐसा अपूर्व बनाव बन गया। तो आज का दिन मांगलिक है। तीर्थंकर भगवान का जो जन्म है वो प्राणी मात्र के लिए हित का कारण है, प्राणी मात्र के लिए। तो आज का दिन मांगलिक है। उसमें ये मांगलिक गाथा, १३ नंबर की गाथा का स्वाध्याय चलता है।

इसमें जो व्यवहारनय का जो विषय है, नवतत्त्व का जो भेद है, जो परिणाम है, वो परिणाम, जीव नहीं होने पर भी उसमें जीव का भ्रम हो गया है। तो सच्चा जीव, परमार्थ-जीव, पारमार्थिक-जीव, भूतार्थ-जीव, उसकी दृष्टि में आता नहीं है। वो परिणाम जीव नहीं है, उसके दो कारण हैं। एक तो जो ये परिणाम है, वो अनित्य है, नाशवान है; जीव तो अविनाशी तत्त्व है। दूसरा, वो जो परिणाम उत्पन्न होता है वो कर्म के सद्भाव-अभाव के संबंध से होता है इसलिए ये जो परिणाम हैं नौ, उनको परमात्मा ने कर्मकृत फरमाया है; कर्म की अपेक्षा से उत्पन्न हुआ है, इसलिए कर्मकृत कहा है। तो परिणाम में आत्मबुद्धि हो गई है, परिणाम जीव नहीं होने पर भी, वो जीव है, ऐसा भ्रम, भ्रांति - मिथ्यात्व हो गया है। आखिर में वो ऐसा भी तर्क करता है कि व्यवहारनय से तो जीव है ना, निश्चयनय (से) न हो तो न हो। ऐसे व्यवहारनय का पक्ष और लक्ष करके भी, उसमें जीव की भ्रांति कर लेता है।

एक माईल्ल धवल है, उसका नयचक्र नाम का शास्त्र है। उसमें आचार्य भगवान फरमाते हैं कि जीव ऐसा बोलते हैं, कहते हैं कि 'जो देह है, शरीर है, वो जीव है- (ऐसा) मैं व्यवहारनय से कहता हूँ, मैं कहाँ निश्चयनय से कहता हूँ?'; मगर वो देह को निश्चय से जीव ही मान लेता है!

ऐसे जो नवतत्त्व का भेद - परिणाम है, व्यवहारनय का विषय है, उसमें जीव का लक्षण नहीं है। जीव का लक्षण तो **निष्क्रियः शुद्धपारिणामिकः** (गाथा ३२०, समयसार, तात्पर्यवृति टीका, जयसेनाचार्य पृष्ठ ५८२) वो उसका लक्षण है। त्रिकाल शाश्वत, वो पारिणामिकभाव से तन्मय है आत्मा, अनादि-अनंत। वो जो नवतत्त्व परिणाम है, वो चार भाव स्वरूप है तो किसी परिणाम में तो उदयभाव तन्मय है, किसी परिणाम में उपशमभाव तन्मय है, किसी परिणाम में क्षयोपशमभाव तन्मय है, किसी परिणाम में क्षायिकभाव तन्मय है। मगर उसमें, जीव का जो लक्षण शाश्वत पारिणामिकभाव, उसका लक्षण नहीं है। इसलिए वो जीव नहीं है, एक बात।

दूसरी बात समयसार, नियमसार में फरमाया (कि) ये जो सात-तत्वों का समूह है अथवा नौ-पदार्थ, वो सब परद्रव्य है, स्वद्रव्य नहीं है। जैसे परद्रव्य में मेरे अनंत गुण नहीं हैं, मेरे जो अनंत गुण इधर (अंदर) हैं, वो किसी परद्रव्य में मेरे अनंत गुण नहीं हैं। ऐसे परिणाम जो हैं, कोई भी परिणाम ले

लो, बंध और मोक्ष दो प्रकार हैं। संक्षिप्त में, (short) में, बंध में पुण्य-पाप-आस्रव समाहित हो जाता है (और) मोक्ष में संवर-निर्जरा समाहित हो जाता है, शुद्धता की अपेक्षा (से)। ये बंध परिणाम, भाव-बंध या भाव-मोक्ष है, वह परद्रव्य है। जैसे परिणाम के लक्ष से वीतरागता नहीं होती है, ऐसे परद्रव्य के लक्ष से भी वीतरागदशा प्रगट नहीं होती है।

तो मेरा जो जीव-तत्त्व है, आत्म-तत्त्व है, उसमें अनंत गुण हैं मगर मोक्ष की पर्याय में अनंत गुण नहीं हैं; इसलिए वो परभाव है और परद्रव्य है, इसलिए हेय है। हेय का अर्थ, उसमें जीव-तत्त्व की भ्रांति छोड़ दे, जीव नहीं है वो। तूने उसको जीव मान रखा है। जैसे देह में जीव नहीं है, वैसे परिणाम में भी जीव नहीं है। जीव उसमें आता ही नहीं है। जीव अपना मूल-स्वभाव छोड़कर कोई अनित्य परिणाम में जाता नहीं है और परिणाम द्रव्य में आता नहीं है। परिणाम, परिणाम में रहता है और द्रव्य, द्रव्य में रहता है; ऐसे नय-विभाग की युक्ति से विधि-निषेध करे जब आत्मा, तब शुद्धात्मा का अनुभव होता है।

तो इधर नवतत्त्व की बात आ गई यहाँ तक, कि **जिनके लक्षण जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बंध और मोक्ष है- उनमें**, ये नव में। आहाहा! नव के मध्य में, परिणाम के मध्य में भगवान आत्मा विराजमान है। जैसे सोना है सोना, gold, उसकी नव अवस्थायें होती हैं समझो, तो इन अवस्थाओं में सोना नहीं है। अवस्था, सोना नहीं है। वो अवस्था है एक समय की, वो अवस्था तो नाशवान है, पलटती है। तो सोनी का लक्ष, जवेरी का लक्ष, सोने (के) ऊपर है। और जो ग्राहक आता है, उसका लक्ष ઘાટ (आकृति), अवस्था ऊपर है; तो कोई अवस्था ठीक लगती है और कोई अवस्था अठीक लगती है, तो विषम-भाव, राग-द्वेष उत्पन्न हो जाता है। सोना तो सदृश्य है, वो सदृश्य पर लक्ष होने से राग-द्वेष नहीं होता है।

ऐसे भगवान आत्मा जीव-तत्त्व सामान्य है। वो तो प्रत्येक अवस्था होने पर भी अपने सामान्य स्वभाव में आत्मा रहता है; विशेष में कभी आता ही नहीं है क्योंकि विशेष (तो) परद्रव्य है। परद्रव्य का कारण (क्या)? जैसे परद्रव्य के लक्ष से राग होता है, ऐसे परिणाम के लक्ष से रागी प्राणी को राग होता है, इसलिए उसको परद्रव्य कहा। जीव का (जो) परिणाम है वो 'जीव है' ऐसा व्यवहारनय का कथन शास्त्र में बहुत आता है, कथन तो आता है। उसके लिए टोडरमल साहब ने जो कुन्दकुन्द भगवान की ११वीं गाथा है, उसका ही खुलासा टोडरमल साहब ने किया है कि **निश्चयनय से जो निरूपण किया हो उसे तो सत्यार्थ मानकर उसका श्रद्धान अंगीकार करना और व्यवहारनय से जो निरूपण किया हो उसे असत्यार्थ मानकर उसका श्रद्धान छोड़ना** (मोक्षमार्ग प्रकाशक पृष्ठ २५०)।

परिणाम छोड़ने की बात नहीं है। परिणाम छोड़ने का कार्य आत्मा नहीं करता है। जो उत्पन्न करे सो छोड़े। वो ग्रहण भी नहीं करता है और त्याग भी नहीं करता। उत्पाद-व्यय तो स्वयं अपने-आप, अपने स्वसमय में, भगवान आत्मा की अपेक्षा बिना उत्पाद-व्यय हो जाता है। उत्पाद-व्यय (की) पर्याय द्रव्य को छूती नहीं है।

प्रमाण के पक्ष में आने के बाद शुद्धनय से जो आत्मा निकाले, तो अनुभव होता है। प्रमाण में अटकता है, यानि प्रमाणज्ञान का जो विषय (है), **गुणपर्ययवत् द्रव्यं** (तत्त्वार्थसूत्र, अध्याय ५, सूत्र ३८) **उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्** (तत्त्वार्थसूत्र अध्याय ५, सूत्र ३०), (वो) पदार्थ का स्वरूप है। केवल पदार्थ

में अटकने से प्रयोजन की सिद्धि नहीं होती है। केवल मौसंबी प्राप्त करने से प्रयोजन की सिद्धि नहीं होती है। मौसंबी लाकर उसमें (से) रस खींचना चाहिए और छिलका फेंक देना चाहिए।

ऐसे नवतत्त्व जो हैं, वो परस्वभाव हैं, परद्रव्य हैं, इसलिए हेय हैं। यह ममत्वभाव छूटता नहीं था, ममत्व छूटता नहीं था - 'परिणाम तो आत्मा का है ना, मेरा ही है ना, मेरे में होता है ना', अनेक प्रकार का, पर्यायद्रष्टिवाला अनेक प्रकार का तर्क-कुतर्क करके पर्यायदृष्टि छोड़ता नहीं है, पर्याय में आत्मबुद्धि रखता है। 'क्या परिणाम के बिना आत्मा होता है? तो-तो सांख्यमत हो जायेगा, तो स्वच्छंद हो जायेगा', ऐसे-ऐसे-ऐसे व्यवहार का पक्ष कर लेता है, व्यवहार का पक्ष! व्यवहार के पक्षवाला निश्चयनय का निषेध करता है, तो ही व्यवहार का पक्ष आता है। व्यवहार का पक्ष श्रद्धा का दोष है, व्यवहार चारित्र का दोष है, गुण तो है ही नहीं! आहाहा!

उनमें यानि कि नौ प्रकार के परिणाम के जो भेद है, **उनमें एकत्व**, वो नवपना (नौ-पना) था ना, उसमें से एकपना निकालना चाहिए।

सर्व अवस्थाने विषे, न्यारो सदा जणाय; (आत्मसिद्धि गाथा ५४)

सर्व अवस्था (में) अनादि-अनंत अवस्था ले लेना। किसी अवस्था को छोड़ना नहीं; छोड़ सकते ही नहीं। मगर **सर्व अवस्थाने विषे न्यारो**, बस यहाँ जरा रुक जाना। यहाँ एक सेकंड के लिए रुक जाना। **सर्व अवस्थाने विषे न्यारो**, यानि सर्व अवस्था से जुदा, न्यारा यानि जुदा, बस यहाँ अटक जाना। जुदा ही है, नवतत्त्व से आत्मा भिन्न ही है। अरे! नवतत्त्व से आत्मा अत्यंत भिन्न है, ऐसा परम आगम का परम अमृतमय वचन है। 'सर्वथा कहने से, अनेकांत का घात हो जायेगा'। कि नहीं, सम्यक् अनेकांत का ज्ञान प्रगट हो जायेगा। आहाहा! नवतत्त्व से आत्मा अनादि-अनंत भिन्न है, परिणाम मात्र से आत्मा अनादि-अनंत भिन्न है। उस भिन्न का ध्यान-भान उसने नहीं किया।

व्यवहारनय संयोग का ज्ञान कराता है और निश्चयनय स्वभाव का भान कराता है।

उनमें एकत्व ये नव हैं ना, नव-भेद, उसमें **एकत्वविभक्त** (समयसार गाथा ५), वहाँ से शुरू हुई है। **एकत्वविभक्त,** एकत्व का अर्थ क्या है कि अनंत गुण से एकत्व आत्मा है, एकपना है और विभक्त यानि प्रमत्त-अप्रमत्त आदि दशाओं से जुदा है। जुदा करना नहीं है; जुदा है, ऐसा भान नया होता है। अभिन्न है, ऐसा अज्ञान छूट जाता है और भिन्न से भान हो जाता है।

उनमें एकत्व प्रगट करनेवाले। व्यवहारनय से नौ परिणाम दिखते हैं मगर उनमें **सर्व अवस्थाने विषे न्यारो**, न्यारो यानि जुदा, ये दृष्टि का विषय आ गया। न्यारा, बस! **सदा जणाय** (जानने में आता है)। किसको जानने में आता है सदा? सबको। स्वीकार नहीं करता है मगर उसको भगवान आत्मा, **अनुभूतिस्वरूप भगवान आत्मा आबाल-गोपाल** सबको सदाकाल अपने ज्ञान में, **अनुभव में** आता है, प्रतिभासित होता है (समयसार गाथा १७-१८)। उस प्रतिभास को उपयोगात्मक नहीं करता है। जो प्रतिभास को उपयोगात्मक करे, तो-तो सम्यग्दर्शन साक्षात् हो जावे।

इस ज्ञान की पर्याय में स्वपरप्रकाशक की ज्ञप्ति है। निगोद में भी है, एक इन्द्रिय, दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चार इन्द्रिय, पाँच इन्द्रिय, संज्ञी, असंज्ञी, (सबको) स्व-पर का प्रतिभास होता है। इतनी स्वच्छता तो जीव मात्र में रह गई है। भले अज्ञानी मिथ्यादृष्टि हो तो भी इतनी स्वच्छता रह गई है।

शुद्धता नहीं स्वच्छता, कि उसमें स्व-पर का प्रतिभास होता है। ये पंचास्तिकाय शास्त्र (गाथा १२१) में है, कुन्दकुन्द भगवान के शास्त्र में।

स्व-पर का जो प्रतिभास न हो, तो बन्ध-मोक्ष की सिद्धि ही नहीं होती है। स्व-पर का प्रतिभास न हो, तो किसी को मिथ्यात्व नहीं होवे और किसी को सम्यग्दर्शन भी न हो। स्व-पर का प्रतिभास होने पर भी, सभी जीवों (को) जब पर का प्रतिभास है (उस समय) उसको उपयोगात्मक कर लेते हैं। यानि राग का प्रतिभास भी है और ज्ञायक का प्रतिभास भी (है), एक साथ, एक समय में, युगपद् प्रतिभास, एक में दो का प्रतिभास होता है। मगर राग का, देह का प्रतिभास ज्ञान में देखकर, आहाहा! मैं रागी हूँ और मैं देह हूँ, मैं मनुष्य हूँ, मैं नारकी हूँ, मैं स्त्री, मैं पुरूष, आहाहा! ऐसे पर के प्रतिभास को उपयोगात्मक करता है, तो विशेष ज्ञेयाकार ज्ञान का आविर्भाव - अज्ञान हो जाता है। वो ही समय ज्ञायक का प्रतिभास तो था, मगर मैं ज्ञायक हूँ वो समय-समय पर भूल जाता है।

वो अपना ज्ञायक का प्रतिभास तो होता ही है और पर का प्रतिभास होने पर भी जो लक्ष छोड़ देवे, पर का लक्ष छोड़ देवे यानि बिम्ब का लक्ष छोड़े और प्रतिबिम्ब का भी लक्ष छोड़ देवे, क्या कहा? ज्ञान की पर्याय में परपदार्थ का प्रतिबिम्ब होता है, झलकता है, ज्ञान की पर्याय में परपदार्थ झलकता है तो 'परपदार्थ मैं हूँ' ऐसा लक्ष कर लेता है अथवा अंदर में देखे, तो जो परपदार्थ का लक्ष आया, प्रतिभास हुआ, बिम्ब और प्रतिबिम्ब, उस ज्ञान की पर्याय में प्रतिबिम्ब हुआ तो ज्ञेयाकार ज्ञान में आत्मबुद्धि करता है तो ज्ञेय में आत्मबुद्धि कहा जाता है। करता तो है (वो) पर्यायद्रष्टि, पर्याय में आत्मबुद्धि करता है मगर जो पर्याय में आत्मबुद्धि करता है, (तो) उस पर्याय का जो निमित्त है उसमें भी आत्मबुद्धि स्वयं आ जाती है।

अभी ऐसा स्वपरप्रकाशक का प्रतिभास होने पर भी, कोई जीव, किसी समय (पर), अपनी योग्यता और आत्मज्ञानी गुरु के संग से... गुरु फरमाते हैं कि तेरे ज्ञान में भगवान आत्मा जानने में आ रहा है। कि साहब! कब? अनुभव, सम्यग्दर्शन होने के बाद? कि नहीं! अभी, तीनों काल। आहाहा! विश्वास कर, विश्वास कर। ज्ञानी के वचन ऊपर प्रथम विश्वास कर ले कि **जाननहार जानने में आता है,** मुझे **वास्तव में पर जानने में नहीं आता** (सिद्धांतों की सरवाणी, बोल १)। उसमें सम्यक्एकांत हो जायेगा। आहाहा! अनुभव हो जायेगा। निश्चयाभासपना नहीं आयेगा, सांख्यमत नहीं होगा (बल्कि) तू सच्चा जैन बन जायेगा। आहाहा!

तो जब ये कहें कि तेरे ज्ञान में, वर्तमान वर्तते ज्ञान में आत्मा जानने में आता है (तो) स्वीकार कर ले, विश्वास कर ले और प्रयोग कर। जो प्रतिभास हो रहा है, उसको उपयोगात्मक कर ले। ज़्यादा से ज़्यादा छह महीने Practise (अभ्यास) कर तो अनुभव हो जायेगा।

तो जो पर के प्रतिभास को उपयोगात्मक करता है, तो मिथ्याद्दष्टि हो जाता है। जो देहादि, रागादि जानने में ही नहीं आवें तो मिथ्यादर्शन की सिद्धि, संसार की सिद्धि नहीं होती है। जानने में तो आता है मगर जाननेवाला जानने में आता है, वो भूल जाता है। आहाहा!

જાણવાના લોભમાં સઘળોય આ સંસાર છે (जानने के लोभ में पूरा ये संसार है; भेदज्ञान भजनावली आध्यात्मिक भक्ति ४५)। मुझे ये जानने में आता है, ये जानने में आता है, ये जानने में आता

है, ये जानने में आता है। आहाहा! ये जानने में आता है, पर जानने में आता है, राग जानने में आता है; ऐसे-ऐसे करके वो लक्ष पर ऊपर रखता है, मिथ्यादृष्टि हो जाता है। अभी मिथ्यात्व के समय भी, सम्यग्दर्शन होने का कारण तो मौजूद है। क्या कारण? कि उसकी ज्ञान की पर्याय में ज्ञायक का प्रतिभास निरंतर होता है। ऐसा विश्वास करके ज्ञान की पर्याय में जो पर जानने में आता है ऐसे व्यवहार का निषेध करके, राग जानने में नहीं आता है, देह जानने में नहीं आता है (बल्कि) मेरा ज्ञान जानने में आता है, अरे! ज्ञायक जानने में आता है - ऐसे अंतर्मुख करके विचार करके थोड़ी जो स्थिरता आ जावे तो अनुभव हो जावे।

रात्रि (में) पुत्र ने पिता को कहा कि पिताजी ये मकान सारा दिन में तो दिखने में आता है मगर रात में अँधेरा हो गया, अँधेरा, तो मकान कोई दिखने में आता नहीं।

(पिता:) अच्छा!

(पू. लालचंदभाई:) सबेरा हुआ। सबेरा होने के बाद पुत्र ने कहा कि पिताजी ये मकान दिखता है।

(पिता:) तेरे को रात्रि को नहीं दिखता था?

पुत्र:) कि नहीं दिखता था।

(पिता:) अभी दिखता है?

(पुत्र:) कि हाँ! दिखता है।

(पिता:) अच्छा! मकान दिखता है कि कुछ और दिखता है?

(पुत्र:) मकान ही दिखता है और कुछ क्या? (उसका) तो प्रश्न ही नहीं है। और (कुछ का) तो प्रश्न ही नहीं है।

(पू. लालचंदभाई:) इतनी ज्ञान-शक्ति अज्ञानी की बिड़ाई गयी है कि सम्यक् प्रकार से विचार करने की शक्ति भी 'बिड़ाई गई है' को क्या कहें (हिन्दी में)? 'बिड़ाई गई', 'बिड़ाई गई'। आहाहा! कुंठित हो गई, विचार करने की शक्ति। सुबह (पिता ने) कहा कि बेटा रात्रि में मकान नहीं दिखता (था), अभी मकान दिखता है कि और कुछ दिखता है?

(पुत्र:) आप फरमाओ क्या है?

(पिता:) कि प्रकाश नहीं दिखता है?

(पुत्र:) हाँ! प्रकाश तो है पिताजी।

(पिता:) रात्रि को प्रकाश था?

(पुत्र:) कि रात्रि को नहीं था।

(पिता:) अभी तो प्रकाश दिखता है?

(पुत्र:) कि हाँ! प्रकाश तो दिखता है।

(पिता:) अच्छा! तो प्रकाश दिखता है, तो प्रकाश कहाँ से आता है?

(पू. लालचंदभाई:) तो चारों दिशाओं में वो (पुत्र) मुख फेरता है। तो पूर्व-दिशा में से (प्रकाश आता था)।

(पुत्र:) आहाहा!

(पिता:) अभी प्रकाश दिखता है कि (कोई) और चीज दिखती है?

(पुत्र:) कि प्रकाश गौण हो गया, सूर्य दिखता है।

(पू. लालचंदभाई:) यानि पर्याय का लक्ष छूट गया। पर्याय के माध्यम से आगे बढ़ा मगर जब सूर्य पर लक्ष जाता है, तब पर्याय का लक्ष छूट जाता है। ऐसे परपदार्थ - रागादि, देहादि का प्रतिभास तो होता है, बिम्ब और प्रतिबिम्ब, ऐसा संबंध तो है ज्ञेय-ज्ञायक का। तो जो बिम्ब दिखता है तो अज्ञान, प्रतिबिम्ब दिखता है तो भी अज्ञान और ज्ञान की पर्याय में अकेला ज्ञान की पर्याय का भेद दिखे तो भी अज्ञान। ज्ञान की पर्याय में ज्ञायक दिखता है, जब ज्ञायक को देखता है, तब परिणाम का भेद अभेद हो जाता है (और) अनुभूति हो जाती है।

परिणाम भिन्न होने पर भी कथंचित् अनुभव के काल में अभिन्न होता है। इसलिए रहित का श्रद्धान और सहित का ज्ञान एक समय में हो जाता है तो समयसार, प्रवचनसार सब उसमें आ जाते हैं। ध्येय पूर्वक ज्ञेय होता है। ध्येय तो अभेद सामान्य अनंत गुणात्मक पदार्थ है - **गुणसमुदायो द्रव्यं** (पञ्चाध्यायी पूर्वार्द्ध गाथा ७३) और जब ध्येय का ध्यान आता है तब अभेद होता है; परिणाम से कथंचित् अभेद, सर्वथा अभेद नहीं। आहाहा! दृष्टि कथंचित् को नहीं स्वीकारती है और ज्ञान कथंचित् को छोड़ता नहीं है। **आत्मा में स्याद्वाद का अभाव है** मगर आत्मज्ञान **में स्याद्वाद का सद्भाव है** (सिद्धांतों की सरवाणी, बोल ५)। आहाहा!

ऐसा एक देवसेनाचार्य का नयचक्र है। गुरुदेव की उपस्थिति में ही बहुत बार पढ़ा मैंने, मगर उसका अनुवाद हमको बराबर- सही नहीं लगा। इसके लिए पंडितजी (डॉक्टर हुकुमचंदजी भारिल्ल) को कहा कि पंडितजी इतना मेरा काम कर दो। पूरी पुस्तक का अनुवाद करो तो-तो बहुत अच्छी बात है, मगर इतने अंश का, (३१-३२) पन्ने, दो पन्ने के अनुवाद की मेरे को बहुत ज़रूरत है। पंडितजी ने कहा कि भाई साहब! वो मेरे ऊपर छोड़ो, जब मैं बिल्कुल मानसिक (रूप से) free (मुक्त) हो जाता हूँ, तब उसका अनुवाद करके आपको मैं दूँगा। गुरुदेव की उपस्थिति की बात है, पंद्रह साल पहले की बात है; तो उन्होंने अनुवाद करके दिया। मैंने कहा धन्यवाद आपको। (मैंने) पढ़ा और कई विद्वानों को भी उसकी Copy (नकल) मैंने दी थी।

उसमें ऐसा लिखा है कि भगवान आत्मा में भी **स्याद्वाद का अभाव होने पर भी निश्चयाभासपना आता नहीं है** (नयचक्र तत्त्वचर्चा, पृष्ठ २)। निश्चयाभासपना आता नहीं है, वो संतो की वाणी है, मेरी बात कुछ नहीं है। अभी तो ये पुस्तक भी निकल चुकी है नागपुर से। वो जो पंडितजी के शिष्य, आहाहा! जयपुर के, राकेश हैं ना? राकेश भैया ने अनुवाद करके निकाला है। इधर स्टॉल में (अगर) मिलता होगा तो ले लेना, नयचक्र है, 'श्रुत-भवन-दीपिका नयचक्र' - देवसेनाचार्य का है। जिसने, देवसेनाचार्य ने (दर्शनसार में) लिखा कि 'हे कुन्दकुन्द आचार्य भगवान! आप महाविदेहक्षेत्र जाकर, ये जो बात आप न लाये होते तो हमारे जैसे मुनियों का क्या होता!' भावलिंगी संत फरमाते हैं। समयसार, प्रवचनसार, पंचास्तिकाय, अष्टपाहुड़ (शास्त्र है)। आहाहा! ऐसे देवसेन आचार्य भगवान ने ये लिखा है कि **स्याद्वाद का अभाव होने पर भी**.... दृष्टि के विषय में स्याद्वाद कहाँ है? कथंचित् नहीं, वो

तो सर्वथा है। आहाहा! मगर जहाँ सर्वथा आया वहाँ भड़क जाता है जीव। किसी अपेक्षा से अपने साध्य की सिद्धि करने के लिए वस्तु की स्थिति ऐसी है, वस्तु ऐसी है। - स्याद्वाद, भगवान त्रिकाल - दृष्टि के विषय में स्याद्वाद नहीं है। मगर जिसको दृष्टि का विषय दृष्टि में आता है और ज्ञान प्रगट होता है, उसको साथ-साथ में सम्यग्ज्ञान प्रगट हुआ, उस आत्मज्ञान में स्याद्वाद का जन्म होता है और स्याद्वाद का जन्म अनुभव में ही होता है। शास्त्र से स्याद्वाद का यथार्थ ज्ञान होता नहीं है। ये (तो) अनुभव की चीज है। आहाहा!

तो शांति से सुनना चाहिए। अपनी कोई बात अंदर में, दिमाग (में) रखी हो और नई बात कोई आचार्य भगवान की मिले तो उसमें अपने (को) गहराई से विचार करके बैठाना चाहिए। अपने हित के लिए वो लिख गए हैं, अपने लिए लिख गए हैं। वो तो अपना काम करके चले गए और ज्ञानी कहते जाते हैं और चले जाते हैं। ज्ञानी कहते जाते हैं और चले जाते हैं, रुकते नहीं। ज्ञानी हमारे लिए रुकते नहीं। अपना काम कर लेते हैं। कहते जाते हैं सत्य; जो अपने आत्मा का अनुभव हुआ, तो वो अनुभव से कलम चलाकर ताड़पत्र पर लिखकर चले जाते हैं। आहाहा! कहते जाते हैं और चले जाते हैं। कहते जाते हैं और कोई सुनता है और कोई सुनता (नहीं है) और कोई सुनता है, उसमें कोई अनुभव भी कर लेता है। ऐसी परंपरा भारत में चालू है।

यहाँ कहते हैं कि नवतत्त्व में एक शुद्धात्मा, **एकत्व प्रगट करनेवाले**। उस नयचक्र के अंदर वो अंश होगा। लिया हें ने? ... उसमें डाला है? अंदर पूरा? अच्छा! देवसेनाचार्य की अभी जो बात की ना, यह quotation (संदर्भ) उसमें आया (है)। नयचक्र ले लेना, इधर स्टॉल में मिलता होगा, बिक्री में। मिलता है ना? मिलता है। आहाहा! बिक्री में है। बोलो! आहाहा!

अरे! जो आत्मा के पीछे पड़ता है, उसको आत्मा की प्राप्ति अवश्य होती है और परपदार्थ के पीछे पड़ता है, तो परपदार्थ मिलता ही नहीं है। कथंचित् मिले और कथंचित् नहीं मिले, ऐसा उसमें स्याद्वाद है नहीं। आत्मा मिलता है और परपदार्थ किसी को आज तक मिला नहीं है। आहाहा! परपदार्थ मिले आत्मा को? कि आत्मा का ज्ञान मिले आत्मा को? जो आत्मा में हो तो मिलता है मगर आत्मा में जो नहीं है, (वो) नहीं मिलता है। पंकज? अच्छा!

ये सर्वार्थसिद्धि के देव का नाम क्या? सौधर्म इंद्र का पाठ। अच्छा!

एक, **उनमें एकत्व प्रगट करनेवाले,** एक, एक, एकोऽहम्, एकोऽहम्, एकोऽहम्, एक शुद्धात्मा है। एक में अनेक की नास्ति है, शुद्ध में अशुद्धता की नास्ति है, ऐसी अस्ति एक की है। एक में अनेक की नास्ति है। अनेक, अनेकपने भले हो, अनेक, अनंत पर्याय भले हों, अनंत द्रव्य भी भले हों, हों तो हों। हमारे कार्य की सिद्धि उसके लक्ष से होती नहीं है इसलिए हमारे लिए तो एक ही ज्ञेय है। छह द्रव्य हमारा ज्ञेय नहीं हैं, नवतत्त्व हमारे ज्ञेय भी नहीं हैं। अरे! ज्ञेय में से निकाला (निकाल दिया)? उपादेय में से तो निकाला (वो तो) ठीक है। उपादेय तो नहीं है। मगर जानने लायक तो है कि नहीं? ज्ञेय तो है कि नहीं?

आहाहा! कि पर्याय है, पर्याय जानने लायक है, जाननी तो चाहिए ना। ऐसा गुरुदेव ने बता दिया है। फिर से ज़रा एक बार (ले लेते हैं)। उसमें कोई पुनरुक्ति दोष आता नहीं है। आहाहा! प्रवचन

रत्नाकर भाग १ (गुजराती) १४६ (हिन्दी १४९), **और कोई ऐसा भी कह सकता है**, **और कोई ऐसा भी कह सकता है - 'पर्याय है, उसका ज्ञान करना चाहिए न?'** आहाहा! उसका ज्ञान करना चाहिए कि ज्ञायक का ज्ञान करना चाहिए? ये भूल गया। उसके ज्ञान में रुक गया, पर्याय के ज्ञान में रुक गया। चौदह गुणस्थान, मार्गणास्थान, आठ-कर्म, १४८ कर्म-प्रकृति। आहाहा! ये सत्ता में हैं, इतनी अभी उदय में हैं, इतनी वियुच्छुती है, उदीरणा है। आहाहा! कहाँ गया तेरा लक्ष? पर में गया। तो क्या अभ्यास नहीं करना? अरे! प्रथम **आत्मा को जानना** (समयसार गाथा १७-१८), बाद में सब जानने की बात बनाओ; नहीं तो ये मनुष्य-भव हार जायेगा।

पर्याय है, उसका ज्ञान करना चाहिए न? क्योंकि (उसका) ज्ञान नहीं करे तो निश्चयाभास (हो जाएगा)। अनेक प्रकार का तर्क-वितर्क करके भटककर मरता है जीव। **उसका ज्ञान करना चाहिए न**, **पर्याय जानना चाहिए, पर्याय जानना चाहिए, पर्याय को विषय बनाना चाहिए**। आहाहा! ज्ञायक को विषय बनाना चाहिए कि पर्याय को? वो भूल गया। **अन्यथा एकांत हो जायेगा।** आहाहा! पर्याय को विषय नहीं बनावें, पर्याय जाने नहीं तो एकांत हो जाये - ऐसा तर्क करता है अज्ञानी मिथ्याद्रष्टि, मिथ्यात्व रखने के लिए। **पर्याय भी वस्तु है, अवस्तु नहीं है, ऐसा शास्त्र में भी कहा है।** आहाहा! शास्त्र के बहाने भी (मिथ्यात्व पुष्ट करता है)। आहाहा!

कार्य तो पर्याय में होता है न? इतना बोल लिया है। कार्य तो पर्याय में होता है। हमको तो कार्य का काम है। निष्क्रिय क्या, (वो तो) हमको उपयोग में (ही) नहीं आता है। उपयोग तो पर्याय का आता है ना, आनंद तो पर्याय में आता है ना? पर्याय प्रगट करनी है तो पर्याय के सामने देखना तो चाहिए ना? आहाहा! देखो! **कार्य तो पर्याय में होता है न? पर्याय के बिना कहीं कार्य होता है क्या?** पर्याय बिना कार्य नहीं होता। पर्याय बिना कोई कार्य होता नहीं **- ऐसा पर्याय का पक्ष करके**, पर्याय का ज्ञाता नहीं है। द्रव्य के ज्ञाता बिना कोई भी जीव पर्याय का ज्ञाता (हो), ऐसा व्यवहार उत्पन्न हो सकता नहीं।

प्रथम ज्ञायक का ज्ञाता हो, वह सविकल्पदशा में भेद का ज्ञाता होता है। निर्विकल्पध्यान में तो अभेद का ज्ञाता हो जाता है, पुनः। थोड़ी देर के लिए भेद का ज्ञाता होता है। थोड़े Time (समय) के लिए सविकल्पदशा है। **किसी-किसी को किसी काल में** जाना हुआ **प्रयोजनवान है** (समयसार गाथा १२), सभी काल में जाना हुआ प्रयोजनवान – (ऐसा) नहीं लिखा है भेद। आहाहा!

ऐसा पर्याय का पक्ष करके, पर्याय का पक्ष करके परस्पर व्यवहार के पक्षरूप उपदेश करके व्यवहार का उपदेश नहीं। **व्यवहार के पक्षरूप उपदेश करके मिथ्यात्व पुष्ट करते रहा हैं।** अज्ञानी प्राणी जानने के बहाने से भी आत्मा को जानना छोड़कर.... (लेकिन) हमने आत्मा को जानना कहाँ छोड़ा है? आत्मा को जानते-जानते पर्याय की बात करता हूँ। परंतु आत्मा को जाना तूने तो आनंद आया? (तो कहें) कि आनंद तो धीमे-धीमे, बाद में कभी भी आएगा परंतु पर्याय को तो पहले जान लें। पर्याय को जानते ज्ञान बढ़ता जाता है, क्षयोपशम बढ़ जाता है। आहाहा! क्षयोपशम बढ़ता है कि अज्ञान बढ़ता है? (मुमुक्षु: अज्ञान।)

ऐसे नवतत्त्व में, नवतत्त्व का लक्ष छोड़ दे एक दफे। नवतत्त्व हैं, नवतत्त्व हैं मगर लक्ष छोड़ दे उसका। नवतत्त्व तेरा ज्ञेय नहीं है। आहाहा! छह द्रव्य और नवतत्त्व जहाँ तक ज्ञेय बनेंगे तहाँ तक भगवान आत्मा ज्ञेय बनेगा नहीं; और जो ज्ञेय नहीं बनेगा तो ध्येय भी बननेवाला नहीं है; जो ध्येय नहीं बनता है तो ध्यान भी प्रगट होता नहीं है और ध्याता भी होता नहीं है।

ये ज्ञेय (को) फेर दो, ज्ञेय फेर दो। आहाहा! लक्ष फेर दो। पुण्य-पाप का लक्ष छोड़ दे, पुण्य-पाप छोड़ने की बात नहीं है। छोड़े कौन? आहाहा! लक्ष छोड़ दे। लक्ष इधर (अंदर) ले ले। आहाहा! कि **जाननहार जानने में आता है, (वास्तव में) पर जानने में नहीं आता** (सिद्धांतों की सरवाणी बोल १)। हाय! हाय! पर जानने में नहीं आता? स्वपरप्रकाशक हमारा ज्ञान है, उसका क्या होगा? कि तेरा काम हो जाएगा।

स्वपरप्रकाशक के तीन प्रकार - भेद हैं। एक (प्रकार का) स्वपरप्रकाशक नहीं (है)। एक तो स्व-पर का प्रतिभास होता है, भव्य-अभव्य की ज्ञान की पर्याय में स्वपरप्रकाश का प्रतिभास होता है, अज्ञानी मात्र (को)। वो सम्यग्ज्ञान नहीं है, मिथ्याज्ञान है। स्वपरप्रकाशक होने पर भी ज्ञान मिथ्यात्व है, मिथ्याज्ञान है। अभी उसमें से ही, स्वपरप्रकाशक प्रतिभास में (से), उसमें से ही पर्याय का लक्ष छोड़कर जब अकेला ज्ञायक का लक्ष आत्मा करता है तो ज्ञान की पर्याय का निश्चय प्रगट होता है। ज्ञान की पर्याय के निश्चय की ये रीति है कि अकेला सामान्य का अवलोकन करता है और विशेष को जानना बंद कर देता है; उसका नाम निश्चय से स्वप्रकाशकज्ञान है। उस स्वप्रकाशकज्ञान, ऐसे लक्षण से आत्मा लक्षगत हो जाता है। तो स्वप्रकाशक हुआ उसमें अनुभव हुआ (और) उपादेयरूप आत्मा जानने में आया। उस ही समय आनंद आया, उस ही समय, तो अंदर का स्वपरप्रकाशक ज्ञान प्रगट हो गया। स्वप्रकाशक जिसको प्रगट होता है, उसको ही सम्यक् प्रकार से स्वपरप्रकाशक प्रगट हो जाता है। वो निश्चय है, अंदर का। ज्ञान ज्ञान को जाने (और) ज्ञान आनंद को जाने - (ये) अंदर का स्वपरप्रकाशक।

एक स्वपरप्रकाशक आया अभी एक, अभी दूसरा। साधक, सविकल्पदशा में आता है तो आत्मा भी जानने में आता है और परपदार्थ का प्रतिभास (भी) होता है - ऐसी ज्ञान की पर्याय भी जानने में आती है, तो वो स्वपरप्रकाशक-व्यवहार हो गया। स्वप्रकाशक-निश्चय, स्वपरप्रकाशक-निश्चय और स्वपरप्रकाशक-व्यवहार।

और चोथा (बिन्दु), जो तीसरा स्वपरप्रकाश है, वो तो अज्ञानी मात्र (को है); निगोद में भी है, उसमें सम्यग्ज्ञान नहीं है, वह तो मिथ्याज्ञान है। स्वपरप्रकाशक कहने पर भी वो ज्ञान मिथ्या है। भेदज्ञान नहीं करता है। स्व-पर के प्रतिभास में 'स्व जानने में आता है और पर जानने में नहीं आता है' ऐसा विधि-निषेध निश्चय-व्यवहार का करता नहीं है, तो उपयोग अंदर में ढलता नहीं है।

तो उनमें एकत्व प्रगट करनेवाले भूतार्थनयसे, आहाहा! भूतार्थनय यानि जो नय अपने त्रिकाल सामान्य एकरूप स्वभाव को प्रसिद्ध करे, उसको बतावे, ज्ञान अपने शुद्धात्मा को विषय करे, उस नय का नाम, परमार्थनय, निश्चयनय, भूतार्थनय कहा जाता है।

भूतार्थनयसे एकत्व प्राप्त करके, अभूतार्थनय से नौ प्रगट होते हैं, भूतार्थनय से एक प्रगट हो

गया। **शुद्धनयरूपसे स्थापित आत्मा की अनुभूति**, जो शुद्धनय का विषय है शुद्धात्मा, उसकी, ऐसे आत्मा की जो अनुभूति हुई, स्वानुभवदशा हुई **जिसका** नाम **लक्षण आत्मख्याति है**। आत्मा का जो अनुभव हुआ उसका नाम ही आत्मख्याति (है); आत्मा की प्रसिद्धि हो गई। राग से आत्मा जानने में नहीं आता है, शास्त्रज्ञान से आत्मा जानने में नहीं आता है; आत्मज्ञान से आत्मा अनुभव में आ जाता है, तो उसका नाम आत्मख्याति। उसकी **प्राप्ति होती है।** अनंतकाल से आत्मा का लक्ष नहीं किया (था)। अभी आज भगवान का जन्म-दिवस है तो भेदज्ञान का विचार करके अभेद के सन्मुख होने से, प्रयत्न करना, आहाहा! ઉતાવળ (जल्दी) भी नहीं (करना) और प्रमाद भी नहीं (करना)।जल्दी करने से कर्ताबुद्धि होती है और प्रमाद करने से तो पुरुषार्थ खंड हो जाता है। जल्दी भी नहीं और प्रमाद भी नहीं। आहाहा!

(शुद्धनयसे नवतत्त्वों को जाननेसे आत्माकी अनुभूति होती है इस हेतुसे ये नियम कहा है।) शुद्धनय का विषय शुद्धात्मा है, पर्याय नहीं है। पर्याय है मगर पर्याय का लक्ष छूटकर त्रिकाली सामान्य अंदर में चिदानंद आत्मा विराजमान है, नित्य-निरावरण है, उसको भावकर्म का आवरण कभी हुआ नहीं (और) कभी होनेवाला (भी) नहीं (है)। उसने कर्म बाँधा ही नहीं है तो छोड़ता भी नहीं है। द्रव्य-बंध उसको हुआ ही नहीं है, भाव-बंध भी हुआ नहीं है। वो तो भाव-बंध से, द्रव्यकर्म के बंध से भी निराला है, अनादि-अनंत है। आत्मा के साथ कर्म का निमित्त-नैमित्तिक संबंध नहीं है। परिणाम के साथ निमित्त-नैमित्तिक संबंध है और परिणाम से तो आत्मा भिन्न है, इसलिए आत्मा के साथ निमित्त-नैमित्तिक संबंध का त्रिकाल अभाव है। आहाहा!

(शुद्धनयसे नवतत्त्वों को जाननेसे आत्माकी अनुभूति होती है इस हेतुसे ये, इस कारण से ये **नियम कहा है।) वहाँ,** आहाहा! देखो! ये जो भूतार्थनय से नवतत्त्व जाना हुआ सम्यग्दर्शन है, मूल में है मूल में। कुन्दकुन्द भगवान की गाथा में है। भूतार्थनय से नवतत्त्व जाना हुआ सम्यग्दर्शन (है, ऐसा) नियम है। उसका अभी टीकाकार अर्थ करते हैं। भूतार्थनय जो शब्द लगाया है, विशेषण आगे, उसका टीकाकार अभी अर्थ खोलते हैं। उसका ही अर्थ खोलते हैं। **विकारी होने योग्य**, पुण्य और पाप का जो परिणाम है विकृत-भाव है, विभाव है। **विकारी होने योग्य**, आहाहा! आत्मा उपादानपने पुण्य-पाप को करनेवाला (नहीं है) और आत्मा पुण्य-पाप का निमित्त भी नहीं है। पुण्य-पाप के परिणाम आत्मा के आश्रय से नहीं होते हैं, इसलिए निमित्त भी नहीं है। निमित्त-कर्ता भी नहीं और उपादान-कर्ता भी नहीं है। तो परिणाम तो उत्पन्न होता है, **विकारी होने योग्य**। आहाहा! होने योग्य। **होने योग्य होता है** (सिद्धांतों की सरवाणी बोल २) सब। आहाहा! कोई उसका करनेवाला, पुण्य-पाप का करनेवाला उपादानरूप से तो कोई इस जगत में है ही नहीं; न तो कर्म से उत्पन्न होता है राग, न आत्मा से उत्पन्न होता है।

आत्मा राग का उत्पादक नहीं है और कर्म भी उत्पादक नहीं है। **होने योग्य होता है**। होने योग्य, स्वयं, निसर्गज - एक शब्द है। अध्यवसान आदि कैसे उत्पन्न होते हैं? टीकाकार फरमाते हैं कि निसर्गज होता है और संवर-निर्जरा की जब निर्मल पर्याय उत्पन्न होती है, निर्मल, वो **स्वयमुच्छलन्ति**, **स्वयमुच्छलन्ति** (समयसार कलश १४१) आहाहा! स्वयं प्रगट होती है। कोई उसका करनेवाला नहीं।

प्रभु! अकर्ता ऐसे ज्ञायक को, अकर्ता ऐसे ज्ञायक को लक्ष में लिया नहीं और आत्मा ज्ञाता होने पर भी उसको कर्ता मान बैठा है, परंतु वह कर्ता हो सकता नहीं, उसकी बुद्धि भ्रष्ट होती है। ज्ञान का अज्ञान हो गया परंतु आत्मा अकर्तापना को छोड़कर एक समय मात्र (भी) कर्ता होगा नहीं। तेरी बुद्धि बिगड़ेगी परंतु भगवान आत्मा अपना अकर्ता-स्वभाव, ज्ञाता-स्वभाव छोड़नेवाला नहीं है। आहाहा!

मेहनत बहुत की, अनंतकाल गया (ऐसा मानते कि) मैं कर्ता हूँ, कर्ता हूँ, इसका करूँ, इसका करूँ, ऐसा करूँ, वैसा करूँ। आहाहा! आखिर में आया। बाहर का तो नहीं परंतु (अपने) परिणाम को तो करे ना और परिणाम को भोगवे ना? अरे! कर्ता-धर्म को जाने कि कर्ता-धर्म को करे? भोक्ता-धर्म को जाने कि भोक्ता-धर्म को भोगे? विचार तो कर (कि) क्या है? कर्ता-धर्म और भोक्ता-धर्म परिणाम में हैं। मगर परिणाम का कर्ता प्रभु! भगवान आत्मा पवित्र परमात्मा को कहना कि राग का करनेवाला आत्मा है, (इस) पवित्र परमात्मा को, आहाहा! (उसका) अनादर मत कर। अनादर (करेगा तो) तुझे नुकसान हो जायेगा। वो करेगा तो नहीं, करेगा तो नहीं (क्योंकि) अकर्तापना छूटता नहीं है। निजभाव को छोड़े नहीं और परभाव में जाये नहीं। आहाहा!

अज्ञानी तो करता है कि नहीं? अज्ञानी करता है इसका अर्थ क्या? अज्ञानी का शुद्धात्मा जो अकारक है, अकर्ता है, वो कर्ता है? कि परिणाम परिणाम को करता है, उपचार से आत्मा कर्ता है - ऐसा व्यवहारनय अन्यथा कथन करता है। आहाहा! व्यवहारनय असत्यार्थ कथन करता है।

कर्ता-धर्म तो पर्याय में (है), क्रिया का कारक पर्याय में है। क्रिया का कारक द्रव्य में नहीं है। **निष्क्रिय: शुद्धपारिणामिक:** ऐसा कषायपाहुड़ का श्लोक है, आहाहा! जयसेनाचार्य भगवान ने (गाथा ३२०, समयसार, तात्पर्यवृति टीका) उसके अंदर लिखा है। आहाहा! और निष्क्रिय आत्मा वो पंचास्तिकाय में अमृतचंद्राचार्य ने बहुत जगह पर भी लिखा है - निष्क्रिय! आहाहा! क्रिया से रहित! क्रिया से रहित द्रव्य होने पर भी परिणाम क्रियावान है। एक समय भी वो पर्याय निष्क्रिय नहीं होती है; क्रिया होती है। पर आश्रय से करे तो राग और स्वाश्रय (से) वीतरागभाव। क्रिया बिना परिणाम नहीं है और क्रियावाला द्रव्य होता नहीं है, तीनों काल। अच्छा!

ऐसे द्रव्य और पर्याय के बीच में भेदज्ञान करके.... कर्ता-धर्म का प्रतिभास ज्ञान में आया। राग का करनेवाला परिणाम है, षट्कारक से। अभी ये लिया था (समयसार कलश टीका) १७५ श्लोक में। १७४ श्लोक में आया कि ये रागादि परिणाम होते हैं, वो कर्मबंध का कारण हैं। वो तो मैंने जाना (और) माना। लेकिन आप फरमाते हो कि शुद्धात्मा से राग भिन्न है तो राग का कारण कौन है? उपादान-कारण, निमित्त-कारण कौन है? वहाँ जवाब दे दिया कि अंतर्गर्भित **पर्यायरूप परिणमनशक्ति** उपादान-कारण है। दर्शनमोह और चारित्रमोह निमित्त-कारण हैं। देखो! वहाँ निमित्त-कारण का उल्लेख किया और उपादान-कारण अपने से होता है, वो ही बात इसमें १३ नम्बर की गाथा में है।

वो तो राजमल जी ने लिखा है। ठीक! राजमल जी ने लिखा है तो क्या झूठा है? आहाहा! परम सत्य है। अनुभव के अंदर से आई वाणी, भाव सम्यक् होता है। तेरी नजर नहीं पहुँचती है वहाँ वो अलग बात है। बाकी ज्ञानी के ज्ञान में जो अनुभव की बात आती है, मूल प्रयोजनभूत बात (वो सत्य है)। अप्रयोजनभूत बात में कोई फेरफार हो तो-तो क्षम्य है। आहाहा! प्रयोजनभूत बात में कभी फेर होता

नहीं है। अनुभव का विषय और अनुभव कैसे हो, उसमें तीनों काल एक मत होता है, सभी ज्ञानियों का।

तो इधर **विकारी होने योग्य**, करने से, करता है आत्मा और होता है - ऐसा तीनकाल में है नहीं। कर्ताबुद्धिवालों को होने योग्य बैठता नहीं है और जिसको **होने योग्य होता है** (ऐसा बैठता है), उसकी दृष्टि अकारक ज्ञायक पर जाती है और अनुभव होता है। अनुभवी जानता है कि पर्याय तो **होने योग्य होती है**। ऐसा आता है ना, तू किस बात से अधीरा? होने योग्य होता है, ऐसा आता है ना?

मुमुक्षु: काहे होत अधीरा रे, तू सब बाते पूरा।

पू. लालचंदभाई: हाँ हाँ, वो चाहिए मेरे को।

मुमुक्षु: जो जो देखी वीतरागने सो सो होसी वीरा रे (भैया भगवतीदास जी)

पू. लालचंदभाई: जो वीतरागी ने देखा है, उस ही प्रमाण से सब हो रहा है। आहाहा! तू किसलिए मुफ़्त में कर्ताबुद्धि कर रहा है? और तेरा ज्ञान का अज्ञान तू किसलिए कर रहा है? आहाहा! वीतराग भगवान, सर्वज्ञ भगवान ने (जो) देखा (है), वैसा ही होता है। जैसा होता है, वैसा देखा है। आहाहा! क्रमबद्धपर्याय है। किसी पर्याय का कर्ता आत्मा नहीं है मगर कर्ताबुद्धि छूटना, वो भी बहुत उसमें पुरुषार्थ चाहिए आत्मसन्मुखता का, तब छूटती है; केवल शास्त्र सन्मुख के पुरुषार्थ से कर्ताबुद्धि छूटती (नहीं है)। अरे! निर्णय भी आत्मा के सन्मुख होकर आता है और अनुभव भी (आत्मा के) सन्मुख से होता है।

विकारी होने योग्य पुण्य-पाप **और विकार करनेवाला**, निमित्त-कर्ता कौन और उपादान-कर्ता कौन? परिणाम का उपादान-कर्ता परिणाम (है)। निमित्त-कर्ता कौन? कि पुराना कर्म का उदय। सारे नौ ही तत्त्वों में पुराना कर्म लिया है, पुराना कर्म लिया है। वो परिणाम नया कर्म-बंध का कारण है ऐसा नहीं लिया है। ये श्रृंखला टूट जाती है; जब भूतार्थनय से सम्यग्दर्शन होता है, तो जो परिणाम नये कर्म के बंध का कारण होता था अज्ञानी जीव का अज्ञान-मिथ्यात्व, वो चला गया, तो नए कर्म-बंध का वो निमित्त-कारण नहीं है। वो परिणाम उत्पन्न होता है पुण्य-पाप का, उसका निमित्त-कारण पुराना कर्म है। भगवान आत्मा कारण नहीं है। पर्याय का कारण पर्याय है। निमित्त-कारण पुराने कर्म का उदय आदि है।

होने योग्य और करनेवाला, **विकार करनेवाला**, यहाँ व्याप्य-व्यापक सम्बन्ध नहीं है; निमित्त-नैमित्तिक संबंध है। पुराने कर्म के साथ निमित्त-नैमित्तिक संबंध है। निमित्त-नैमित्तिक संबंध किसके साथ होता है? परिणाम के साथ होता है कि भगवान के साथ होता है? आहाहा! पवित्र परमात्मा पर का लक्ष ही नहीं करता है। ओहोहो! तो निमित्त-नैमित्तिक संबंध कहाँ से उसमें होता है? परिणाम में होता है, एक समय के लिये।

तो वो बताते हैं कि **होने योग्य और विकार करनेवाला**, विकार करनेवाला यानि निमित्त-कर्ता। उपादान-कर्ता परिणाम, निमित्त-कर्ता पुराना कर्म का उदय आदि। वे **दोनों पुण्य हैं, तथा दोनों पाप हैं**। आहाहा! एक जीव का परिणाम और एक कर्म का उदय, एक जीव-भाव और एक द्रव्य-भाव, एक जीव और दूसरा अजीव। जीव यानि, जीव के परिणाम को उपचार से जीव कहा जाता

है; वास्तव में वो पुण्य-तत्त्व (है), जीव-तत्त्व नहीं है। परिणमता है ना, इसलिए उसका परिणाम भी कहा जाता है; मगर उसकी जुदाई तो अंदर में वैसी की वैसी (है)। माने तो जुदा और न माने तो भी जुदा। आत्मा और आस्रव कभी एक होनेवाले (नहीं हैं)। जड़ और चेतन कभी एक हो जायें तो राग और आत्मा एक हो जायें। जड़ और चेतन तो एक होनेवाले (नहीं हैं)।

जड़ भावे जड़ परिणमे, चेतन-चेतन भाव;
कोई कोई पलटे नहीं, छोड़ी आप स्वभाव .

आहाहा! हमारे चंदूभाई वो बोलते हैं। बहुत अच्छा बोलते हैं! वहाँ तो बोलते हैं, इधर चंदूभाई हैं कि नहीं? बोलो न, जरा बोलो। **जड़ भावे जड़ परिणमे**, बहुत अच्छी बात है। श्रीमद्(राजचन्द्र)जी की है। तात्विक बात है।

चंदूभाई: **जड़ भावे जड़ परिणमे, चेतन-चेतन भाव;**
कोई कोई पलटे नहीं, छोड़ी आप स्वभाव. १
जड़ ते जड़ त्रण कालमां, चेतन चेतन तेम;
प्रगट अनुभवरूप छे, संशय तेमां केम? २
जो जड़ छे त्रण कालमां, चेतन चेतन होय;
बंध- मोक्ष तो नहि घटे, निवृत्ति प्रवृत्ति न्होय. ३
जड़ भावे जड़ परिणमे, चेतन-चेतनभाव;

चेतन जड़रूप नहीं होता है और जड़ चेतनरूप (नहीं होता है)। छठवीं गाथा में आचार्य भगवान छठी का लेख लिखते-लिखते.... छठी का लेख है, अफर है। उसमें लिखा, आहाहा! देखो छठवीं गाथा। आत्मा रागरूप तीनकाल में होता नहीं है, शुभाशुभरूप होता नहीं है। (यदि) हो जाये, तो (आत्मा) जड़ हो जाये। आहाहा! तो जड़ का मैं कर्ता हूँ, आत्मा राग का कर्ता है वो अज्ञानी के अज्ञान के घर में से आई (हुई) बात है; सर्वज्ञ भगवान ने ऐसा कहा नहीं है। सर्वज्ञ भगवान (अगर) कर्ता कहें तो कहें कि ज्ञान का कर्ता है, ऐसा कहें; मगर राग का कर्ता (नहीं है)। आहाहा! है ही नहीं ऐसा स्वरूप। **आत्मा का स्वभाव ज्ञान है और ज्ञान का स्वभाव आत्मा को जानना है** (सिद्धांतों की सरवाणी बोल १०)। आत्मा को जब जानता है ज्ञान, ज्ञानरूप परिणमता है, तो ज्ञान का कर्ता उपचार से कहा जाता है। मगर राग का कर्ता कहा जाता नहीं है, वह तो अज्ञान-भाव है। अप्रतिबुद्ध का लक्षण है। आया है सब। आत्मा में राग होता है और राग का कर्ता है और दुःख का भोक्ता है (ये) अप्रतिबुद्ध का लक्षण है, अज्ञानी का लक्षण है। वाणी से उसका माप निकलता है कि पर्यायदृष्टि है।

देखो! इसमें लिखा है कि जो **पुण्य-पाप को उत्पन्न करनेवाले समस्त अनेकरूप शुभाशुभभाव, उनके स्वभावरूप परिणमित नहीं होता** (समयसार गाथा ६)। भगवान आत्मा, शुभाशुभभाव भले पर्याय में हो, पर्याय में होने पर भी द्रव्य वो जड़-भावरूप होता नहीं है, वो तो चेतनभाव है। **जड़ भावे जड़ परिणमे, चेतन-चेतनभाव** (श्रीमद्जी)। ये राग जड़ है, पुद्गल के परिणाम में कठिनाई हो तो जड़ तो ले कि उसमें स्वपरप्रकाशक-शक्ति का अभाव है। आहाहा! पुद्गलकृत तेरे को नहीं बैठे तो जीवकृत नहीं है, कर्मकृत भी नहीं है, मगर पर्यायकृत है ऐसा तो बिठा दे। आहाहा! कर्मकृत नहीं बैठे तो कोई नहीं, जीवकृत तो नहीं है, मगर पर्यायकृत (है)। कार्य है तो उसका कोई करनेवाला होता है, उसके षट्कारक से प्रगट होती है पर्याय। आहाहा! ये भेदज्ञान है। शुभाशुभरूप

आत्मा होता ही नहीं है, परिणमता नहीं है यानि होता नहीं है। **ज्ञायकभाव से जड़भावरूप नहीं होता** (समयसार गाथा ६)। आहाहा!

आज तो जन्म-दिवस है, भगवान का जन्म-दिवस है। जिसको आत्मा में सम्यग्दर्शन का जन्म होता है, वो अल्पकाल में केवलज्ञान की प्राप्ति कर लेता है। ऐसा जन्म दिवस है आज का, उज्ज्वल। Time (समय) हो गया।

ॐ